इंडियन स्वाद

अर्धकुंभ में स्नान-ध्यान के साथ ही रोजाना लाखों लोगों के भोजन की व्यवस्था एक बड़ा प्रश्न है. इस मेले और नगर के भोजन के बारे में बता रहे हैं व्यंजनों के माहिर **प्रोफेसर पुष्पेश पंत**...

कुंभ मेले में भोजन

इस वर्ष 'दिव्य और भव्य' कुंभ मेले के आयोजन का बड़ा शोर शराबा है- संदेश यह दिया जा रहा है कि यह महज पारंपरिक धर्म विशेष के साथ जुड़ा पर्व नहीं, पर इसी बहाने भारत अपनी तकनीकी क्षमता और प्रबंधन की प्रतिभा की नुमाइश भी अनायास कर सकता है. पर्यटन को तो प्रोत्साहन मिलेगा ही. इसीलिए जब हमारे एक भोजन भट मित्र ने पूछा 'कुंभ का खास खाना क्या होता है? वहां खाना क्या चाहिए?' तो हमें अटपटा नहीं लगा. इस बात को भूलिये कि यह अर्धकुंभ ही है और प्रयाग के संगम पर माघ मेला हर साल जुटता है और यह असाधारण विराट भीड़ के जमघट का पर्याय बन चुका है. बहरहाल, यह समझ नहीं आ रहा कि कुंभ के खास खाने की बात कहां से शुरू करें?

पुष्पेश पंत

कुंभ के स्नान का माहात्म्य सर्वविदित है. करोड़ों की भीड़ जहां जुटेगी, वहां उनके खाने-पीने की व्यवस्था भी परमावश्यक है. जाहिर है, जो लोग कल्पवास कर पुण्य कमाने की अभिलाषा रखते हैं, वह पखवाड़े भर या मास पर्यंत उपवास नहीं रखते. दूसरी बात यह है कि भले ही यह जलसा सिर्फ आस्थावान हिंदुओं तक सीमित नहीं रह सकता, संगम पर गंगा-जमुना तट पर खाया-खिलाया जानेवाला भोजन शुद्ध शाकाहारी और कमोबेश सात्विक ही हो सकता है. जो लोग तीर्थ यात्रा के मकसद से कम पर्यटन-मनोरंजन के इरादे से ज्यादा इलाहाबाद (अब प्रयागराज) का रुख करते हैं, वह इस शहर की मशहूर चाट का स्वाद चखे बिना नहीं लौटना चाहेंगे. विडंबना यह है कि कुंभ को दिव्य और भव्य बनाने की महत्वाकांक्षा में सड़कों का जो चौड़ीकरण हुआ, उसकी चपेट में कटरा बाजार की नेतराम जैसी दूकानें भी आ गयीं. यही आशा की जा सकती है कि मकर संक्रांति के पहले यह पुनर्वासित हो सकेंगे! लोकनाथ में हरी के समोसे- जो महीनों टिकाऊ होते हैं, कम मजेदार नहीं हैं. हां, मकर संक्रांति के दिन माष की खिचड़ी खाने की परंपरा है. इसका निर्वाह करनेवाले भी काफी हैं.

संगम का अर्थ है एकाधिक जलधाराओं का मिलन. इस जगह सिर्फ गंगा-जमुना का ही संगम नहीं होता, बल्कि कुंभ मेले के अवसर पर जो श्रद्धालु देश के विभिन्न भागों से यहां पहुंचते हैं, वह अपने इलाके के जायके भी साथ लाते हैं, जिनमें से कुछ स्थानीय जुबान पर चढ़े बिना नहीं रह सकते.

जोगी जंगमों के दर्जनों अखाड़े तंबू-तानते धूनी रमाते हैं. यह भी भूखे भजन नहीं करते. इसी मेले में कभी एक अर्ध नग्न साधु ने हमें षडरस भोजन की नयी व्याख्या समझायी थी. बाबा जी मिट्टी की हांडी में सब कुछ एक साथ पका रहे थे- जो मिला- पत्ते-डंठल, बीज-फल कच्चे-पके, फूल और तिल. उनका कहना था कि इन पदार्थों में ही छह के छह स्वाद रहते हैं- मीठा, नमकीन, खट्टा, कड़आ, कसैला और तीखा. बीजों से तेल की चकनाई मिल जाती है, और हरी पत्तियों से नमक. पहले तो यकीन नहीं हुआ, पर जब 'प्रसाद' को जीभ पर रखा, तो महसूस हुआ कि वास्तव में एक ही लुकमे में सारे स्वादों का आनंद लेना संभव है. उसके बाद कभी वह जादू हम खुद नहीं जगा पाये, पर सड़क किनारे की इस फकीरी दावत की याद अब भी ताजा है.

कुंभ के खाने-पीने के बारे में एक अन्य बात सतर्कता बरतने की है. खाने की चीजों को साफ-सफाई से न बनाया गया हो, या इन्हें धूल-गर्द-मक्खियों और गंदे हाथों से बचाकर न रखा जाये, तो जानलेवा रोगों के संक्रमण का भारी खतरा भी रहता है. पेय जल भी निरापद ही रहना चाहिए. यह आशा करना नाजायज नहीं कि स्वच्छता अभियान की गति कुंभ में और तेज होगी तथा इस आयोजन के बाद भी हम यह सावधानी छोड़ेंगे नहीं!

कुंभ के बहाने ही सही, यदि विविधता का अनायास आदर करना शुरू कर सकें, तो इससे बड़ा पुणवय कार्य क्या होगा?

नयी किताब

स्त्री-संघर्ष और आवाजें

वरिष्ठ कथाकार मधु कांकरिया का उपन्यास 'हम यहां थे' की खासियत यह है कि नायिका के जरिये घर की स्त्री के निजी संघर्षों को जनसंघर्ष तक ले जाने की विचारमय यात्रा मिलती है.

एक सीमित अंतराल पर मधु कांकरिया उपन्यास लिखती रही हैं. सन् 2000 में उनका पहला उपन्यास 'खुले गगन के लाल सितारे' आया था. 'सेज पर संस्कृत' और 'सूखते चिनार' के बाद उनका छठा उपन्यास 'हम यहां थे' किताबघर प्रकाशन से आया. मशहूर कविता पंक्तियों के उपशीर्षकों से सजा यह उपन्यास डायरी के शिल्प में है. उपन्यास की नायिका दीपशिखा है और वह एक साथ ही करुणा, प्रतिरोध, संघर्ष, स्वप्न, संकल्प और समर्पण की प्रतिमूर्ति बना दी गयी है. 'दीपशिखा की डायरी : अपने-अपने जंगल' से 'ओ जिंदगी! ओ प्राण!' तक के उपशीर्षकों में मधु कांकरिया ने दीपशिखा के बहाने कोलकाता के मारवाड़ियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक हालातों का वर्णन करती हैं. लेकिन, अलका सरावगी और शर्मिला जालान की रचनाओं में मारवाड़ियों का सहज और स्वाभाविक जीवन जिस प्रामाणिकता के साथ उपस्थित होता है, वह इस उपन्यास में अनुपस्थित है.

उपन्यास के उत्तरार्द्ध में नायक जंगल कुमार की नजर से दीपशिखा के जीवन को पूर्णता देने की कोशिश की गयी है. 'एक मुझमें रागिनी है/ जो तुमसे जागिनी है' में दीपशिखा के सौंदर्य का ऐंद्रिय वर्णन है, जहां जंगल कुमार हैं और वह पूर्णता के अहसास से भर जाती है. जब उसे कैदी नंबर 989 के रूप में जंगल कुमार पाते हैं, तो वह अफसोस नहीं करती. वह कहती है- 'अभी सब खत्म नहीं हुआ है जंगल कुमार. अंजलि में अमृत अभी भी बचा हुआ है.'

दीपशिखा पति परित्यक्ता है, लेकिन उपन्यास में पति की विशेष चर्चा नहीं मिलती. वह उपन्यास के शुरू में ही अपने बच्चे के साथ घर लौट आती है. सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त मां के साथ लगातार संघर्ष करती दीपशिखा बड़े भाई के सहयोग से कंप्यूटर की पढ़ाई ही नहीं करती, बल्कि बड़े भाई के दोस्त की कंपनी में काम करना शुरू करती है. और वहीं कोलकाता से बिशुनपुर पहुंच जाती है दीपशिखा.

उपन्यास की खासियत यह भी है कि दीपशिखा में घर की स्त्री के निजी संघर्षों को जनसंघर्ष तक ले जाने की विचारमय यात्रा का प्रमाण है. इस दीर्घ यात्रा में लगे पंद्रह-बीस वर्षों के बीच घटी घटनाओं से भी पाठक परिचित होता चलता है. उपन्यास 'हम यहां थे' के बहाने मधु कांकरिया अपने सामाजिक-राजनीतिक सचेतनता का भी प्रमाण देती हैं.

- **मनोज मोहन**

सिनेमा

मृणाल सेन की फिल्में गरीबी, सामाजिक न्याय, सत्ता के दमन और भूख के सवालों को कलात्मक रूप से हमारे सामने रखती हैं. वे मध्यवर्ग की चिंताओं, पाखंडों को फिल्मों के केंद्र में रखते हैं. वे चाहते थे कि उनकी फिल्में देखकर दर्शक उद्वेलित हों.

सत्ता से सवाल करती फिल्में

फिल्मकार मृणाल सेन (1923-2018) के अवसान के साथ ही करीब पचास साल की उनकी फिल्मी यात्रा थम गयी. मृणाल सेन बांग्ला सिनेमा के अद्वितीय चितेरे ऋत्विक घटक और सत्यजीत रे के समकालीन थे. ऋत्विक घटक की 'नागरिक' (1952) और सत्यजीत रे की 'पाथेर पंचाली' (1955) फिल्म के आस-पास मृणाल सेन अपनी फिल्म 'रात भोर' (1956) लेकर आते हैं. पर जहां सत्यजीत रे को दुनियाभर में पहली फिल्म के साथ ही एक पहचान मिल गयी, वहीं मृणाल सेन को लंबा इंतजार करना पड़ा था.

अरविंद दास, पत्रकार

मृणाल सेन की तरह ही भारतीय सिनेमा में पचास वर्षों से ज्यादा से सक्रिय मलयालम फिल्मों के निर्देशक और दादा साहब फाल्के पुरस्कार से सम्मानित अदूर गोपालकृष्णन कहते हैं कि 'मृणाल सेन को सफलता काफी संघर्ष के बाद मिली. वर्ष 1969 में आयी हिंदी फिल्म 'भुवन सोम' ने उन्हें भारतीय सिनेमा में स्थापित कर दिया.' मृणाल सेन के अवसान के बाद एक बार फिर से उनकी फिल्मों और सिनेमाई संसार में उनकी गुरुता की तुलना सत्यजीत रे से की जाने लगी है. गोपालकृष्णन कहते हैं कि 'घटक और रे दोनों से मृणाल सेन स्टाइल और अप्रोच में अलग थे. वे अपनी फिल्मों में प्रयोग करने से कभी नहीं डरे. वे अपनी विचारधारा के प्रति आबद्ध रहे.'

खुद मृणाल सेन कहा करते थे: 'मैं सिनेमा में काम करता हूं, सिर से पांव तक सिनेमा में डूबा हूं. मैं सिनेमा में निबद्ध हूं, पूरी तरह आसक्त.' नक्सलबाड़ी आंदोलन की पृष्ठभूमि में कोलकता को केंद्र में रखकर सेन ने 'इंटरव्यू' (1971), 'कलकत्ता 1971' (1972) और 'पदातिक' (1973) नाम से फिल्म त्रयी बनायी, जो उस दौर की राजनीति, युवाओं के सपने और आम लोगों की हताशा को हमारे सामने रखती हैं. हाल में बॉलीवुड में बनी राजनीतिक फिल्मों के साथ इन फिल्मों को देखें, तो उत्कृष्ट कला और प्रोपगैंडा के फर्क को हम आसानी से समझ सकते हैं. सेन कभी मार्क्सवादी पार्टी के सदस्य नहीं रहे. हां, इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन (इप्टा) और मार्क्सवादी आंदोलनों के साथ उनका जुड़ाव था.

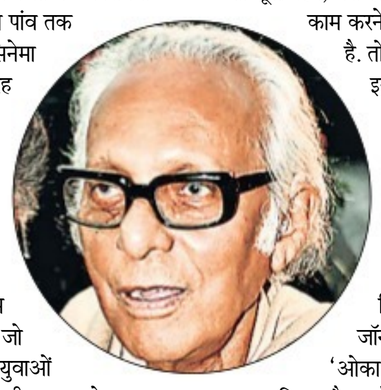

मृणाल सेन की फिल्में गरीबी, सामाजिक न्याय, सत्ता के दमन और भूख के सवालों को कलात्मक रूप से हमारे सामने रखती हैं. उन्होंने प्रेमचंद की चर्चित कहानी कफन को आधार बना कर तेलगू में 'ओका ऊरी कथा' (1977) बनायी. यह कहानी जितना मर्म को बेधती है, फिल्म हमें उतना ही झकझोरती है. फिल्म का पात्र वेंकैया कहता है कि 'यदि हम काम नहीं करें, तो भूखे रहेंगे, वैसे ही जैसे बेहद कम पगार पर काम करनेवाला मजदूर भूखा रहता है. तो फिर काम क्यों करना?' इसमें उन्होंने बंटे हुए समाज में श्रम के सवाल को केंद्र में रखा है, भूख और मानवीयता के लोप को निर्ममता के साथ दर्शाया है.

मृणाल सेन की फिल्मों पर काम करनेवाले जॉन डब्ल्यू वुड ने लिखा है: 'ओका ऊरी कथा एक एंटी-हीरो फिल्म है. इसमें उस दुनिया का चित्रण है, जहां निर्दोष व्यक्ति दुख सहता है और अनैतिक फलता है और जहां आवाज उठाने, विरोध करने का कोई अर्थ नहीं.' क्षेत्रीयता की भूमि पर विकसित उनकी फिल्में अखिल भारतीय हैं.

आपातकाल के बाद सेन की फिल्मों का स्वर बदलता है. फिल्म 'एक दिन प्रतिदिन' और 'एक दिन अचानक' में स्त्रियों की आजादी का सवाल है. वे मध्यवर्ग की चिंताओं, पाखंडों को फिल्मों के केंद्र में रखते हैं. वे चाहते थे कि उनकी फिल्में देखकर दर्शक उद्वेलित हों. पॉपुलर सिनेमा की तरह उनकी फिल्में हमारा मनोरंजन नहीं करतीं, बल्कि संवेदनाओं को संवृद्ध करती हैं, 'अंतःकरण के आयतन' का विस्तार करती हैं.

वादी से

जाफरान और बादाम के बागान सिकुड़ने लगे हैं और मजहबी-इदारों की पौध गली-गली उगने लगी है. सियासत और कट्टरवाद ने हर ओर नफरती खंजर गाड़ दिये हैं.

एक उदास कविता!

पीर-पंजाल की तलहटी में बसी वादी-ए-कश्मीर पर उदासी का एक स्याह कुहासा तारी है. कोई नहीं बताता कि वह कौन-सा सियासी जलजला था या जिन्नात का कौन-सा हुकूमती साया था, जिसने वादी के सीधे-सादे चरवाहों, कारीगरों और किसानों को बागी बना दिया. और देखते ही देखते घाटी जन्नत से मौका-ए-वारदात में तब्दील हो गयी, जहां चिनार के गिरे हुए पत्तों के नीचे से जिंदा कारतूस और मुर्दा ख्वाब आये दिन बरामद होने लगे. इंतेहा-पसंदी की सुलगती कांगड़ी को कश्मीर के फिरन (लंबा चोगा) में रखकर कई फिरके अपने हाथ सेंकने लगे, हालांकि उसकी चिंगारियों ने कश्मीर के ताने-बाने को जलाकर खाक कर दिया.

ऐश्वर्या ठाकुर
आर्किटेक्ट एवं ब्लॉगर

ऐसा लगता है जैसे यहां सूरज भी सरहद की कंटीली तारों से अपना पैरहन बचाते हुए डूबता है, मगर सियासी गांठों में उलझा कश्मीरी कारीगर सिर झुकाये चुपचाप पश्मीने की शॉल पर बेल-बूटियां कातता रहता है. इसी कश्मीर की जरखेज जमीन ने लल्लद्यद और हब्बा खातून जैसे लाफानी किरदार उपजाये. कहीं राजसी बगीचे हैं, कहीं शहंशाहों की कब्रें हैं और कहीं दरवेश-फकीरों की मजारों पर हुजूमों से रौनक आबाद है.

तमाम उथल-पुथल में भी बर्फ के वर्क पर पांव टिका-टिकाकर यहां जिंदगी एहतियात से चलने की कोशिश करती रहती है. टूरिस्टों की आमद पर झील में फिर से बाजार तैरते हैं, मकान तैरते हैं और हल्की-फुल्की उम्मीद भी. जेहलम से पीठ सटाये खपच्चियों से जड़े पुराने मकान, नयी कालोनियों को कनखियों से तकते हैं. खुले हरे मैदानों में गुनगुनी धुप अपने छाया-नुमा हस्ताक्षर छोड़ती जाती है. बस स्टैंड में ऊंघती हुई सुस्त बसें मानो मजबूरन सवारियां लादकर बटमालू, नौहट्टा और रैनावाड़ी की ओर निकल पड़ती हैं.

शिकारे की पतवार डल झील की पीठ थपथपाती है और खामोश झील, संतूर की एक धुन की तरह बज उठती है. मगर, फौजी बूटों की गड़गड़ाहट से बूढ़े कदल एकाएक कांप जाते हैं. और फिर रातभर डाउन टाउन की निहत्थी गलियों में हथियारबंद खाकी गश्त लगाती है. जाहिर है, धमाकों और सन्नाटों की मुसलसल अदला-बदली में वान्वुन के गीत गूंगे हो जाते हैं.

नक्काशी और कशीदाकारी करनेवाले हाथ आज मजबूरन अपना मुकद्दर पत्थरों और बंदूकों से उकेरने की कोशिश करते हैं. कुछ हाथ अधजले कोयले उठाकर दुकानों के शटर और ढहती हुई दीवारों पर भी सुलगते हुए नारे लिख देते हैं, जिन पर हुकूमत बार-बार सफेदी पुतवा देती है. हालात यूं हैं कि जो लड़के दुनियाभर में कश्मीर-विलो के बैट (क्रिकेट बल्ला) तराशकर भेजते हैं, वे खुद कर्फ्यू से सुन्न अपनी गलियों में क्रिकेट तक नहीं खेल पाते. यहां दहशतजदा भेड़ों के रेवड़ अपने बाड़े में ही कैद रहते हैं, मगर कई बार वादी की गुमराह भेड़ें हरे घास को चरने सरहद पार निकल जाती हैं और वापिस हर बार भेड़िया बनकर ही आती हैं.

चश्मे उतारकर देखो तो लगेगा कि कश्मीर में सिर्फ वाजवान ही नहीं, अरमान बुनते नौजवान भी हालात की धीमी आंच पर सुलगते हैं. कश्मीर में सिर्फ विलो के दरख्त ही नहीं, हाफ-विडोस भी सवालिया निशानों की तरह जड़ खड़ी मिलती हैं. कुछ मकान जो कभी घर थे, पर अब महज मलवे का ढेर हो गये हैं. हर गली में शुबा है, हर मोड़ पर शक है. जाफरान और बादाम के बागान सिकुड़ने लगे हैं और मजहबी-इदारों की पौध गली-गली उगने लगी है. सियासत और कट्टरवाद ने हर ओर नफरती खंजर गाड़ दिये हैं. हर दीवार पर कड़वाहट के नुकीले टुकड़े लगे हैं. इन ऊंची पथरीली दीवारों के पार जाना तो दूर, देखना तक मुहाल है. दरअसल, कश्मीर एक ऐसे किले में तब्दील हो गया है, जिसे कोई फतेह करने की फिराक में है, तो कोई इस पर कब्जा बनाये रखने को मुस्तैद है. इस रस्साकशी में खिंचता कश्मीर कहीं किले से कब्रगाह न बन जाये. दिल से यही दुआ निकलती है कि ऐसा न हो. चश्मों से फूटते पानियों की तरह जाने किस रोज कश्मीर के नासूर से मवाद रिसेगा और जख्म भरने के बाद वादी को इस लंबी दर्दमंद उदासी से निजात मिलेगी.

फेस्टिवल

अहमदाबाद का काइट फेस्टिवल

डॉ कायनात काजी
सोलो ट्रेवलर

अहमदाबाद में साबरमती फ्रंट पर बड़े विशाल स्तर पर इंटरनेशनल काइट फेस्टिवल का आयोजन होता है.

पतंग उड़ाना इंसान के पंछी बन दूर गगन में उड़ने की इच्छा का सजीला प्रतीक है. हमारे देश में यह अलग-अलग मौकों पर देखा जाता है. गुजरात में मकर संक्रांति के अवसर पर पतंग उड़ाने का रिवाज है. एक बड़े उत्सव के रूप में अहमदाबाद में इंटरनेशनल काइट फेस्टिवल के तौर पर इसे मनाया जाता है.

काइट फेस्टिवल की तैयारी महीनों पहले से होने लगती है. अहमदाबाद की गलियों में पतंग के बाजार सज जाते हैं. यहां रॉकेट, चील, गरिया, चोकरी, चांदतारा और पुछड़ पतंगों के प्रकार हैं. यहां लोग पतंग उड़ाने में जोर-शोर से भाग लेते हैं. पतंगबाजी में सामने वाले की पतंग काटकर जोर से 'काय पो छे' का नारा लगाते हैं. 'काय पो छे' का अर्थ गुजराती में 'मैंने तेरी पतंग काट दी' से जुड़ा हुआ है. बदलते समय के साथ इस पारंपरिक लोक उत्सव ने विश्वव्यापी स्तर पर पहचान बनायी है. अहमदाबाद में साबरमती फ्रंट पर बड़े विशाल स्तर पर इंटरनेशनल काइट फेस्टिवल का आयोजन होता है. यहां दूर-दूर से लोग भाग लेने आते हैं. एक से बढ़कर एक पतंगें नजर आती हैं. अलग-अलग रंग, आकर की ये पतंगें पांच रुपये से हजारों रुपये की कीमत वाली होती हैं.

अहमदाबाद के रसूल भाई एक डोर में 500 पतंगों को उड़ाने का कीर्तिमान कायम कर चुके हैं. मकान की छतें युवा लड़कों से भरी रहती हैं, वहीं लड़कियां भी पेंच लड़ाने से पीछे नहीं रहतीं. माहौल को रंगारंग बनाने के लिए लोग गीत-संगीत भी शामिल करते हैं.

पतंग में कंदील बांधकर सधे हाथों से उड़ाना एक महारत है. बस एक ही शर्त है- ऊंचाई कितनी भी हो जाये, लेकिन कंदील के अंदर रखी मोमबत्ती बुझनी नहीं चाहिए. अब तो एलईडी पतंगें भी खूब नजर आती हैं. अहमदाबाद में कई प्रोफेशनल काइट फ्लाइंग क्लब चलते हैं. इन क्लबों ने इस प्राचीन खेल को एक इंटरनेशनल स्पोर्ट्स के रूप में स्थापित करने में बड़ी मेहनत की है.

मकर संक्रांति हिंदू समाज में एक मात्र ऐसा त्योहार है, जो सूर्य की गति पर केंद्रित होता है. यह हर वर्ष चौदह जनवरी को मनाया जाता है. इस दिन खिचड़ी खाने का रिवाज बड़ा ही वैज्ञानिक है. इस दिन नदियों और पवित्र सरोवर में स्नान भी किया जाता है. कहते हैं सूर्य की स्थिति बदलने से नदियों में वाष्पन की क्रिया होती है. ऐसे समय में नदी के जल में स्नान करने से रोग दूर होते हैं. इसीलिए प्रयागराज में कुंभ मेला में मकर संक्रांति के दिन पवित्र स्नान होता है. इस दिन से पवन अपनी दिशा भी बदलता है. इसीलिए शायद इस दिन पतंग उड़ाने का चलन शुरू हुआ होगा. इसी दिन से सर्दी भी घटने लगती है.

अहमदाबाद में इस उत्सव की बड़ी धूम देखी जाती है. पूरा परिवार एक जगह जमा होता है. सुबह से ही खिचड़ी, गुड़, तिल और कपड़े दान में दिये जाते हैं. इस दिन भगवान सूर्य की पूजा होती है. महिलाएं बेसन और मेथी की डिश 'ऊंधिया' पकाती हैं. इस दिन गरमा-गरम जलेबी भी खायी जाती है. तिल के लड्डू बनाये जाते हैं. दादी-नानी बच्चों के लिए तिल के लड्डुओं में पैसा छुपा देती हैं, ताकि लालच में बच्चे लड्डू खायें.

गुजरात के लोग इस पर्व से जुड़ी कई पौराणिक कहानियां भी सुनाते हैं. गंगा मां को धरती पर लाने के लिए राजा भगीरथ को बड़े प्रयत्न करने पड़े थे. उनकी कड़ी तपस्या से प्रसन्न होकर मां गंगा धरती पर आयीं और इसी दिन गंगा मां समुद्र में जाकर मिल गयीं.

इस साल काइट फेस्टिवल 6 से 14 जनवरी के बीच पूरे गुजरात में मनाया जा रहा है. गुजरात टूरिज्म द्वारा इसका आगाज अहमदाबाद स्थित साबरमती रिवर फ्रंट से किया जाता है और हर दिन गुजरात के अलग-अलग शहरों में आयोजित किया जाता है. फेस्टिवल में भाग लेने ऑस्ट्रेलिया, बेलारूस, ऑस्ट्रिया, नेपाल, जर्मनी, कनाडा और इस्राइल की टीमें आती हैं. यहां भिन्न-भिन्न आकर-प्रकार की पतंगें ड्रैगन से लेकर डोरेमोन और शक्तिमान से लेकर छोटा भीम तक सब हवा से बातें करती हैं.

कोई अपनी बड़ी सी पतंग से सब में धौंस जमाने में लगा होता है, तो कोई अपनी पतंग के सहारे अवेयरनेस फैलाने का काम करता है. इन पतंगों के जरिये राजनीति से लेकर स्वच्छता मिशन तक के मुद्दे आसमान में तैरते नजर आते हैं. जोश और उमंग से भरे इस फेस्टिवल का इंतजार पूरे सालभर किया जाता है.